

एकीभावस्तोत्रम्

सहजानन्द शास्त्रमाला

एकीभावस्तोत्रम्

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्यवर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'एकीभावस्तोत्रम्' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थको पुनः प्रकाशित करना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल www.jainkosh.org पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्री सुरेशजी पांड्या, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone:94066-82889

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

Contents

गाथा १	5
गाथा २	6
गाथा ३	6
गाथा ४	7
गाथा ५	8
गाथा ६	9
गाथा ७	10
गाथा ८	11
गाथा ९	11
गाथा १०	12
गाथा ११	13
गाथा १२	14
गाथा १३	15
गाथा १४	16
गाथा १५	17
गाथा १६	18
गाथा १७	18
गाथा १८	19
गाथा १९	20
गाथा २०	21

एकीभावस्तोत्रम्

गाथा २१	23
गाथा २२.....	24
गाथा २३.....	24
गाथा २४.....	25
गाथा २५.....	26
गाथा २६.....	27

एकीभावस्तोत्रम्

श्रीमत्पूज्यवरवादिराजमुनिकृतमेकीभावस्तोत्रम्

(सहजानन्दप्रकटीकृताध्यात्मध्वनिसहितम्)

गाथा १

एकीभाव गत इव मया यः स्वयं कर्मबन्धे

घोरं दुःखं भवभवगतो दुर्निवारः करोति ।

तस्याप्यस्य त्वयि जिनवरे भक्तिरुन्मुक्तये चेत्

जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः ॥१॥

अन्वय—मया सह स्वयं एकीभावं गतः इव भवभवगतः दुर्निवारः यः कर्मबन्धः घोरं दुःखं करोति, हे जिनवरे तस्य अपि अस्य उन्मुक्तये त्वयि भक्तिः चेत् तया अपरः कः ताप हेतुः जेतुं शक्यः न भवति ।

अर्थ—मेरे साथ एकीभाव को प्राप्त हुए की तरह भव-भव में साथ चला हुआ जो दुर्निवार कर्मबंध घोर दुःख को करता है, हे जिन सूर्य ! ऐसे भी उस कर्मबंध से मुक्ति के लिये तुम्हारी भक्ति समर्थ होती है तो और दूसरा कौनसा संताप का कारण जीता जाने के लिये शक्य (सम्भव) नहीं है ?

अध्यात्मध्वनि—भव-भव में प्रवाहरूप से चला आया जो रागादि क्रियारूप बंधन अपनी परिणति से स्वभाव में एकपने जैसे भाव को प्राप्त हुआ जीव के दुर्निवार घोर दुःख को करता है, ऐसे उस कर्मबंध के नष्ट करने के लिये हे जिनवर ! हे जिनरवि ! विषयकषाय विभावों को जीतने वालों में श्रेष्ठ ज्योतिर्मय सूर्य अर्थात् हे ज्ञायकभाव ! तुम्हारी उन्मुखता, भक्ति तथा आराधना जब समर्थ है तब उस निज ज्ञायकभाव की आराधना के द्वारा अन्य संताप के निमित्तभूत द्रव्यकर्म आदि जीत लेना क्या शक्य नहीं है ? अर्थात् निजचैतन्य भाव की आराधना से द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म—सभी जीते जा सकते हैं ।

सारांश—चैतन्यभाव की आराधना में सर्व संकट दूर होते हैं ।

गाथा २

ज्योतीरूपं दुरितनिवहध्वांतविध्वंसहेतुं

त्वामेवाहुर्जिनवर चिरं तत्त्वविद्याभियुक्ताः ।

चेतोवासे भवसि च मम स्फारमुद्भासमानस्त-
स्मिन्हः कथमिव तमो वस्तुतो वस्तुमीष्टे ॥२॥

अन्वय—हे जिनवर ! चिरं तत्त्वविद्याभियुक्ताः त्वां एव दुरितनिवहध्वांतविध्वंसहेतुं ज्योतीरूप आहुः च मम चेतोवासेस्फारं उद्भासमानः भवसि, तस्मिन् अहः तत्त्वतः कथं इव वस्तुं ईष्टे ।

अर्थ—हे जिनवर ! चिरकाल से तत्त्वविद्या में अभियुक्त मुनिवृन्द तुमको ही पापरूप अंधकार के विनाश के कारणरूप, ज्योतिर्मय कहते हैं । और, तुम मेरे मन-मन्दिर में प्रकटवत् प्रकाशमान ही रहे हो, फिर उस मन्दिर में पापान्धकार वस्तुतः कैसे निवास पाने को समर्थ हो सकते हैं ?

अध्यात्मधनि—हे जिनवर ! अर्थात् विषयकषायों के जीतने के स्वभाव वाले श्रेष्ठ ज्ञायकभाव ! चिरकाल तक तत्त्वज्ञान में उपयुक्त हुए योगीजन तुमको ही विकल्पलक्षणपापसमूहरूप अंधकार के विनाश करने में कारणभूत ज्योतिस्वरूप कहते हैं । ऐसे तुम मेरे चित्तगृह में— उपयोग में प्रकट प्रकाशमान हो रहे हो, फिर उस उपयोग में अन्धकार वास्तव में किस प्रकार आवास को प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् जिसके उपयोग में चैतन्य तत्त्व है उस आत्मा में मोह आदि कोईसा भी अंधकार ठहर नहीं सकता ।

सारांश—जहां प्रकाश है जिसे योगीन्द्र ध्याते हैं उस चैतन्य की आराधना करो ।

गाथा ३

आनन्दाश्रुस्नपितवदनं गद्गदं चाभिजल्पन्

यश्चायेत त्वयि दृढमनाः स्तोत्रमन्वैर्भवन्तम् ।

तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरादद्देहेवलम्पीकमध्या-
न्निष्कास्यन्ते विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः ॥३॥

अन्वय—यः त्वयि दृढमनाः सन् आनन्दाश्रुस्नपितवदनं च गद्गदं अभिजल्पन् स्तोत्रमन्तैः
भवन्तं चायेत तस्य अभ्यस्तात् अपि विविधविषमव्याधयः काद्रवेयाः देहवल्मीकमध्यात् निष्कास्यन्ते
।

अर्थ—जो तुमसे दृढ़ चित्त होता हुआ, आनन्दमय अश्रुओं से भीग गया है मुख जहा इस प्रकार एवं गद्गद् वाणी से बोलता हुआ स्तोत्र मंत्रों के द्वारा आपको पूजता है उसके अभ्यस्त भी शरीररूपी वामी में से नाना प्रकार के विषम रोगरूपी सर्प निकल जाते हैं ।

अध्यात्मध्वनि—चैतन्य भाव के गहन ध्यान के प्रभाव के निमित्त से आनन्दरूप अश्रु करि स्नपित हुआ है मुख (ज्ञान) जिसमें (इस आत्मा का मुख ज्ञान है जिसके द्वारा आत्मा पहचानने में आता है) अथवा आनन्दरूप अश्रु कर सर्वप्रदेशों में अवगाह गया है ज्ञान जिसमें— इस प्रकार तथा गद्गद् उत्तम स्तवन करता हुआ अव्यक्त ध्वनि में सूक्ष्म अन्तर्जल्प **विद्धजानी** होता हुआ जो, हे चैतन्यरूप ! तुममें दृढमन होता हुआ भजन-मनन से तुमको पा लेता है उस आत्मा में से अनादि प्रवाह से चले आये हुए सूक्ष्म शरीररूप वाणी में बसे हुए अनेक विषम परिणामरूप व्याधियां वही हुए सर्प, वे शीघ्र ही निकल जाते हैं अर्थात् चित्रकाश में उपयुक्त रहता है उसके नाना क्लेश स्वरूपी विषम परिणाम—रागद्वेषादि विभाव नहीं रहते ।

सारांश—चैतन्य तत्त्व के ध्यान से भावरोग, द्रव्यरोग सभी विलीन हो जाते हैं ।

गाथा ४

प्रागेवह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्या

त्यूर्ध्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम् ।

ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्टस्तत्किं

चित्रं जिनवपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि ॥४॥

अन्वय—हे देव ! भव्यपुण्यात् त्रिदिवभवनात् इह एष्यता त्वया भव्यपुण्यात् इदं पृथ्वीचक्रं कनकमयतां निन्ये । तत् हे जिन ! ध्यानद्वारंरुचिकरं मम स्वान्तगेहं प्रविष्टः इदं वपुःयत् सुवर्णीकरोषि तत् किं चित्रम् ।

अर्थ—हे देव ! भव्य जीवों के पुण्य से स्वर्गलोक से इस नरलोक में आने वाले तुमने आने से पहले ही इस पृथ्वीमण्डल को सुवर्णमयता को प्राप्त करा दिया था तब फिर हे जिनेन्द्र देव ! ध्यानरूपी द्वार है जिसमें ऐसे रुचिकर मेरे मनमन्दिर में प्रविष्ट हुए तुम इस शरीर को जो सुवर्णमय कर रहे हो वह क्या आश्चर्य की बात है ?

अध्यात्मध्वनि—हे प्रकाशमय ! अनुभव में आते हुए तुमने इस लोक में देवादि भोगपूर्ण गति पाने से पहले ही पवित्र होनहार से अनेक अन्तरात्माओं के मृत्युचक्र को मर्मभेदी कर दिया अर्थात् तुम्हारे अनुभव होने के प्रारम्भ में ही ज्ञानियों के मरण-जन्म की व्यवस्था को तुम्हारे प्रभाव मात्र ने ही ढीला कर दिया, आत्मा के स्वभाव को विकास में कर दिया तब ध्यानरूपी है द्वार जहा पर, ऐसे रुचिकर हृदयरूपी घर में तुम (हे ज्ञायक भाव) प्रविष्ट होकर इस देहाकार आत्मतत्त्व को यदि जैसा सुन्दर शोभनीक वर्ण-स्वरूप है उसी प्रकार करते हो तब इसमें क्या आश्चर्य है ?

सारांश—चैतन्यतत्त्व की आराधना से आत्मा की अपूर्व सुभगता प्रकट होती है ।

गाथा ५

लोकस्यैकस्त्वमसि भगवन्निर्निमित्तेन बन्धु

स्त्वय्येवासौ सकलविषया शक्तिरप्रत्यनीका ।

भक्तिस्फीतां चिरमधिवसन् मामिकां चित्तशश्यां

मय्युत्पन्नं कथमिव ततः क्लेशयूर्थं सहेथाः ॥५॥

अन्वय—हे भगवन् ! त्वं लोकस्य एकः निर्निमित्तेन बन्धुः असि, सकलविषया अप्रत्यनीका असौ शक्तिः त्वयि एव असि । ततः चिरं भक्तिस्फीतां मामिकां चित्तशश्यां चिरं अधिवसन् मयि उत्पन्नं क्लेशयूर्थं कथं इव सहेथाः ?

अर्थ—हे भगवन् ! तुम लोक के एक अकारण बंधु हो, सकल पदार्थों को विषय (ज्ञान) करने वाली निधि शक्ति तुममें ही है । तब फिर चिरकाल से भक्ति से विस्तृत की हुई मेरी चित्तशश्या पर आवास करते हुए तुम मुझसे उत्पन्न हुए दुःखों के समूह को कैसे सहन करोगे ?

अध्यात्मधनि—हे भगवन्-ज्ञानपिण्ड ! तुम लोक के एक बिना निमित्त प्रयोजक के बन्धु हो । जिस आत्मा की दृष्टि तुम (ज्ञायकभाव) पर होती है वह अनाकुल हो जाता है । हे ज्ञानमय ! समस्त लोकालोक को विषय करने वाली प्रतिघातरहित शक्ति तुम ही में है । सब भक्ति से स्फीत विस्तृत कोमल सजी हुई मेरी चित्तशब्द्या में रहते हुए तुम मुझसे उत्पन्न हुए क्लेशसमूह को क्यों ही सहते हो ?

सारांश—चैतन्यदेव के आराधक को क्लेश-संक्लेश होना महान् आश्चर्य की वस्तु है ।

गाथा ६

जन्माटव्यां कथमपि मया देव दीर्घं भ्रमित्वा,

प्राप्तैवेयं तव नयकथा स्फारपीयूषवापी ।

तस्या मध्ये हिमकरहिमव्यूहशीते नितान्तं

निर्मग्नं मां न जहति कथं दुःखदावोपतापाः ॥६॥

अन्वय—हे देव ! जन्माटव्यां दीर्घं भ्रमित्वा मया तव इयं नयकथा स्फारपीयूषवापी कथं अपि प्राप्ता एव । हिमकरहिमव्यूहशीते तस्या मध्ये नितान्तं निर्मग्नं मां दुखः दावोपतापाः कथं न जहति ?

अर्थ—हे देव ! जन्मरूपी अटवी में बहुत काल भ्रमण करके मैंने तुम्हारी यह नयकथारूपी अमृत की वापिका को किसी प्रकार से प्राप्त कर ही ली है, अब चन्द्रमा और हिम (बर्फ के समूह) के समान शीतल उस बावड़ी के मध्य में अत्यन्त मग्न हो रहे मुझको दुःखाग्नि के संताप कैसे नहीं छोड़ते हैं ? अपितु छोड़ ही देते हैं ।

अध्यात्मधनि—हे सदा प्रकाशमान देव ! विशेषरूप औपाधिक व्यक्तियों से जन्मरूप अटवी में दीर्घं भ्रमण करके मैंने किस ही प्रकार समोघ सुखपूर्ण अमृत से भरी यह तुम्हारी स्तुति कथा (परम आत्मस्वरूप की कहानी) प्राप्त कर ही लो । अब उस नय कथा में जो कि चन्द्र, हिम आदि समूह से भी अधिक सुखावह (शीतल) है, उसमें अवगाह किए हुए मुझको दुःखरूप दावानल के संताप—अर्थात् परलक्ष्य से उत्पन्न हुए संक्लेश कैसे नहीं छोड़ देते हैं, अपितु छोड़ ही

देते

हैं

।

सारांश—जो अनादि, अनंत, अचल, स्वसंवेद्य निजज्ञानभाव पर दृष्टि देते हैं—ज्ञाता-द्रष्टारूप बन जाते हैं उन्हें फिर किसी प्रकार संक्लेश-दुःख नहीं उत्पन्न होता है ।

गाथा ७

पादन्यासादपि च पुनतो यात्रया ते त्रिलोकीं,

हेमाभासो भवति सुरभिः श्रीनिवासश्च पद्मः ।

सवाङ्गेण स्पृशति भगवंस्त्वय्यशेषं मनो मे,

श्रेयः किंतत्स्वयमहरहर्यन्न मामभ्युपैति ॥७॥

अन्वय—यात्रया त्रिलोकीम् पुनतः ते पादन्यासात् अपि पद्मः हेमाभासः सुरभिः च श्रीनिवासः भवति । हे भगवन् त्वयि मे अशेषं मनः सर्वांगेण स्पृशति सति तत् किं श्रेयः यत् अहः अहः मां न अभ्युपैति ।

अर्थ—यात्रा विहार के द्वारा तीनों लोकों को (सर्व जीवों को) पवित्र करने वाले तुम्हारे चरणों के न्यास रखने मात्र से जब कमल भी सुवर्ण जैसा देवीप्यमान सुगन्धित और लक्ष्मी के निवास वाला हो जाता है तब हे प्रभो ! तुम्हारे द्वारा मेरे समस्त मन को सर्वांग से छू लेने पर ऐसा वह कौनसा कल्याण है जो प्रतिदिन मुझको प्राप्त नहीं होता है ?

अध्यात्मध्वनि—अपनी गति से, क्रिया से तीनों लोकों को पवित्र करने वाले (जानने वाले) हे चैतन्य प्रभो ! तुम्हारे यदि ज्ञान-दर्शन के प्रवर्तन से ही पद्म कहिये भव्यों के हृदय-कमल सुवर्ण की तरह निर्मल सारसहित ज्ञानलक्ष्मी का निवासरूप हो जाते हैं, हे ज्ञानमय ! मेरा मन तुममें स्वरूप से समस्त स्पर्शन करता है तब क्या ऐसा कोई कल्याण है जो प्रतिदिन मुझको न प्राप्त होवे ?

सारांश—चैतन्य का आराधक कल्याण का निधान है ।

गाथा ८

पश्यन्तं त्वद्वचनममृतं कर्णपात्रा पन्ततं,

कर्मारण्यात्पुरुषमसमानन्दधामप्रविष्टम् ।

त्वां दुर्वारस्मरमदहरं त्वत्प्रसादैकभूमिं कूराकाराः

कथमिव रुजा कण्टका निर्लुठन्ति ॥८॥

अन्वय—अमृतं त्वद्वचनं कर्णपात्रा पिवन्त कर्मारण्यात् असमानन्दधामप्रविष्टं, दुर्वारस्मरमदहरं त्वां पश्यन्तं त्वत्प्रसादैकभूमिं पुरुष रुजा कण्टकाः कथं इव निर्लुठन्ति ।

अर्थ—अमृतमय तुम्हारे वचन को कर्णपात्र से पीने वाले को, कर्मरूपी वन से निकलकर अनुपम आनन्दगृह में प्रविष्ट हुए और दुर्निवार काम के मद को हरण करने वाले तथा तुमको अवलोकित करने वाले पुरुष को एक तुम्हारे प्रसाद के प्रधानपात्र पुरुष को रोगरूपी कांटे कैसे दुःखी कर सकते हैं ?

अध्यात्मधनि—अमृत (ज्ञान) के साधनभूत होने से अमृतमय तुम्हारे वाचक वचन को पीते हुए, कर्मवन से निकलकर अनुपम आनन्दधाम में प्रविष्ट हुए दुर्निवार मान के मान को हरने वाले तुमको देखने वाले, तुम्हारे (ज्ञानभाव) की निर्मलता के प्रसाद के आधारभूत एक इस भक्त को कूर रोगरूप कण्टक क्यों कर सताते हैं ? नहीं सताते हैं ।

सारांश—चैतन्य का आराधक निर्वाध होता है ।

गाथा ९

पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्तिर्मान-
स्तंभो भवति च परस्तादशो रत्नवर्गः ।

दृष्टिप्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां,

प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः ॥९॥

अन्वय—रत्नमूर्तिः मानस्तंभः तदितरसमः केवल पाषाणात्मा तथा परः रत्नवर्गः तादृशः आस्ति । यदि तस्य तच्छक्तिहेतुः तव प्रत्यासत्तिः न स्यात् सः नराणां मानरोगं कथं हरति ?

अर्थ—रत्नमय मानस्तंभ अन्य पाषाणों की तरह केवल पाषाणात्मक है, उस ही प्रकार अन्य रत्न समूह भी वैसा ही पाषाणात्मक है सो उसके उस शक्ति को कारणरूप तुम्हारी समीपता वहा न हो तो कैसे वह मानस्तंभ मनुष्यों के मानरूपी रोग को हर सकते ?

अध्यात्मध्वनि—समवशरण में मानस्तंभ होता है, मानस्तंभ में भी रत्न की मूर्ति होती है वह सब पाषाणात्मक है जैसे कि अन्य पाषाण व रत्नसमूह, फिर भी वे मुनियों के मानरोग हरने में कारण सुने जाते हैं सो बात यह है यदि वहा तीर्थकर की समीपता न होती और वास्तव में तो तीर्थकर की आत्मा में ज्ञायकभाव की व्यक्ति न होती तो वह जड़ उपचार से भी मानरोग हरने में निमित्त कैसे हो सकते थे ? उसकी शक्ति तो तुम ही हो ।

सारांश—जो व्यवहार धर्म में चमत्कार भी दिखाई देता है वह है ज्ञायकभाव तुम्हारे ध्यान, अनुभव आदि का ही कारण है । अतः एक तुम ही प्रसन्न निर्मल रहो, इसी में सब सिद्धि है ।

गाथा १०

हृद्यः प्राप्तो मरुदपि भवन् मूर्तिशैलोपवाही,

सद्यः पुंसां निरवधिरुजाधूलिबन्धं धुनोति ।

ध्यानाहूतो हृदयकमलं यस्य तु त्वं प्रविष्टस्तस्या-

शक्यः क इह भुवने देव लोकोपकारः ॥१०॥

अन्वय—भवन्मूर्तिशैलोपवाही हृद्यः मरुद् अपि प्राप्तः सन् सद्यः पुंसां निरवधिरुजाधूलिबन्धं धुनोति । ध्यानाहूतः त्वं यस्य हृदयकमलं प्रविष्टः हे देव ! इह भुवने तस्य कः लोकोपकारः अशक्यः अस्ति ।

अर्थ—हे देव ! आपकी मूर्ति (शरीर) रूपी पर्वत से बहने वाली मनोहर वायु भी प्राप्त होती हुई शीघ्र ही पुरुषों के अमर्यादित रोगरूपी धूलि के संबंध को नष्ट कर देती है तब ध्यान से बुलाये गए तुम जिसके हृदय-कमल में प्रविष्ट हुए हो; हे नाथ ! इस लोक में उसका ऐसा कौनसा कार्य है जो अशक्य हो ।

अध्यात्मधनि—हे चैतन्य भगवन् ! तुम पर्यायों में विराजते हो उनमें कुछ पर्याय सिद्ध होने से कुछ पहले देह के बाह्य क्षेत्र में रहती हैं ऐसे उस आप साकार की मूर्ति के पत्थर से भी टकराकर चलने वाली भी हृदय वायु जिसके हृदय को प्राप्त हो जाय तो यह वायु भी पुरुषों के असीमित रोग के बंधन को नष्ट कर देती है । तो फिर ध्यान से बुलाये गए हैं ज्योतिर्मय देव ! तुम जिसके ज्ञानासन में प्रविष्ट हो जाते हो (विराज जाते हो) उस आत्मा का इस लोक में ऐसा कौनसा लोकोपकार है जो अशक्य हो (न हो सकता हो) ।

सारांश—जब तुम्हारे अव्यक्त संग से वायु भी अनेक चमत्कार दिखा जाती है तब हे ज्ञानदेव ! जो तुमसे रत हो जाता है उसका कौनसा कार्य असंभव है ? परमार्थ भी सरल है ।

गाथा ११

जानासि त्वं मम भवभवे यच्च याद्कृ च दुःखं,

जातं यस्य स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि ।

त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्ति भक्त्या,

यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव एव प्रमाणम् ॥११॥

अन्वय—हे देव ! मम भवभवे यत् च याद्कृ दुःखं जातं यस्य स्मरणं अपि शस्त्रवत् निष्पिनष्टि तत् सर्व त्वं जानासि । त्वं सर्वेशः सकृपः इति त्वां भक्त्यां उपेतः अस्मि । तत् यत्कर्तव्यं अस्ति इह विषये देव एव प्रमाण समस्ति ।

अर्थ—हे देव ! मेरे भव-भव में जो जैसे दुःख उत्पन्न हुए जिनका कि स्मरण ही शस्त्र की तरह पीड़ित करता है उनको सबको तुम जानते ही हो, और तुम सबके स्वामी व दयालु हो, इसलिये तुमको भक्ति से मैंने प्राप्त किया है । अब इस विषय में क्या कर्तव्य है, उसमें आप ही प्रमाण हैं अर्थात् आप ही सोचिए । तात्पर्य यह कि दुःख दूर कीजिए अथवा आपकी वृत्ति ही प्रमाण है ऐसा मुझे होना चाहिये ।

अध्यात्मधनि—हे ज्योतिर्मय चैतन्य देव ! तुम्हारे स्मरण से दूर रहने के कारण व्यवहार में मूर्तिवान् बने हुए मुझे इस जीव के भवभव में जो दुःख हुआ है जिसका स्मरण मात्र शस्त्र की तरह पीड़ा देता है । अब उस दुःख को भी तुम जानते हो क्योंकि तुम्हारी दृष्टि से परे अनादि से

ही कुछ नहीं रहा । अब मेरे यह श्रद्धा जगी है कि तुम ही सबके ईश हो—सर्वस्व (मालिक) हो, कृपा-प्रसाद कर सहित हो सो तुम्हें शक्तिपूर्वक प्राप्त हुआ हूँ । अब मेरा क्या कर्तव्य है ? जो कर्तव्य है इस विषय में हे चैतन्य देव ! तुम ही प्रमाण हो अर्थात् जो चैतन्यस्वरूप की स्थिति है वही प्रमाण है अर्थात् वही होना चाहिये ।

सारांश—जैसा चैतन्य प्रभु है तैसे बनो—यही कर्तव्य है । इस उपाय से कोई दुःख न रहेगा

।

गाथा १२

प्रापदैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टः,

पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यम् ।

कः संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वं,

जल्पञ्चाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम् ॥१२॥

अन्वय—मरणसमये जीवकेन उपदिष्टे: तवनुतिपदैः पापाचारी सारमेयः अपि दैवं सौख्यं प्रापत् । पुनः अमलै जाप्तैः मणिभिः त्वन्नमस्कारचक्रं कल्पन् यत् वासवश्रीप्रभुत्वं उपलभते अत्र कः संदेहः ?

अर्थ—मरण के समय जीवंधर स्वामी के द्वारा सुनाये गए तुम्हारे नमस्कार मात्र के द्वारा कुत्ते ने भी देवलोक के सुख को प्राप्त किया तब निर्मल जपने योग्य मणियों के द्वारा तुम्हारे नमस्कार मन्त्र को जपता हुआ भक्त जो देवेन्द्रों के ऐश्वर्य का स्वामित्व पा लेता हैं तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

अध्यात्मधनि—हे चैतन्य ! मृत्युकाल में ज्ञानी उपकारक गुरु के द्वारा उपदिष्ट तुम्हारे ही भाव की आराधना से भरे हुए नमस्कार मन्त्र के द्वारा पापाचरण में जिसका पहले समय बीता ऐसा कुत्ता (उपलक्षणात् पशुवत्-आचारी संज्ञी प्राणी मात्र) ने स्वर्गलोक के अच्छे सुखों को प्राप्त किया, फिर निर्मल आराधनीय गुण स्वभाव रूप देवीप्यमान मणियों के द्वारा हे ध्रुवतत्त्व ! तुम्हारे अमेद नमस्कार के विषयभूत चक्र अर्थात् अनेक गुण अरावौं के अमेद स्वरूप एक तत्त्व को

अपनी अन्तर्घनि में अन्तर्जल्प करते हैं, वे जो वासव कहिये; अष्टम भूमण्डल, उसकी लक्ष्मी कहिये, शोभा सिद्धि उसकी प्रभुता को पा लेते हैं तब इसमें क्या संदेह है ?

सारांश—चैतन्य भाव की आराधना के पद ही इस मन्त्र में हैं, जिसे अपने से स्वर्गादि प्राप्त होते हैं, तब चैतन्यस्वभाव में उपयोग की स्थिरता से निर्वाण नियत ही है, अतः उसका लक्ष्य अवश्य बना रहना चाहिये ।

गाथा १३

शुद्ध ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा

भक्तिर्नो चेदनवधिसुखावशिका कुश्चिकेयम् ।

शक्योद्धाट भवतिहि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो,

मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमुद्राकवाटम् ॥१३॥

अन्वय—शुद्ध ज्ञाने शुचिनि चरिति सति अपि चेत् अनवधिसुखावशिका कुश्चिका इयं त्वयि अनीचा भक्तिः नो स्यात् तर्हि मुक्तिकामस्य पुंसः परिदृढमहामोहमुद्राकवाटं मुक्तिद्वारं हि कथं शक्योद्धाटं स्यात् ?

अर्थ—शुद्ध ज्ञान व शुद्ध चरित्र होने पर भी यदि अनन्त सुख की अवशिका (दिलाने वाली) कुझी यह तुम्हारी उल्कष्ट न हो तो मुक्ति के अभिलाषी पुरुष के लिये मजबूत महामोह के जिसमें कपाट लगे हैं ऐसा मुक्तिद्वार कैसे खोल जा सकता है ?

अध्यात्मधनि—हे चैतन्य देव ! मैं स्वभाव से शुद्धज्ञान—ज्ञान सामान्यरूप अथवा पर्याय में सम्यग्ज्ञानरूप, एवं शुद्ध चारित्र— चारित्र सामान्यरूप अथवा पर्याय में आत्मद्रव्य के अभिमुख चारित्ररूप हूं, तो भी अनन्त सुख से दूर नहीं रख सकने वाली कुझीरूप, तुम चैतन्य में उत्तम भावनमस्काररूप या अद्वैत नमस्काररूप भक्ति नहीं हो, तो मुक्ति चाहने वाले पुरुष के व मेरे जिसमें चिरकाल से मोह सहित मजबूत विभाव द्रव्यकर्म के किवाड़ डटे हुए हैं ऐसा मुक्ति का बाह्य द्वार निश्चय से कैसे खोला जा सकता है ?

सारांश—अनादि अनंत ज्ञायकतत्त्वमय निज चैतन्य की सेवा, भक्ति व परिणति बिना रागद्वेष नहीं हट सकते हैं और हम सुखी भी नहीं हो सकते हैं। यही मुक्तिद्वार खोलने की चाबी है, वह अंतरंग में है, परापेक्षा की कष्ट करने की आवश्यकता नहीं।

गाथा १४

प्रच्छन्नः खल्वयमधमयैरन्धकारैः समन्तात्,

पन्था मुक्तेः स्थपुटितपदः क्लेशगर्तैरगाधैः ।

तत्कस्तेन ब्रजति सुखतो देव तत्त्वावभासी,

यद्यग्रेऽग्रे न भवति भवद्भारती-रत्नदीपः ॥१४॥

अन्वय—खलु अयं मुक्तेः पन्था अधमयैः अन्धकारैः समन्तात् प्रच्छन्नः च अगाधैः क्लेशगर्तैः स्थपुटितपदः अस्ति । हे देव ! यदि तत्त्वावभासी भवद्भारतीरत्नदीपः अग्रे अग्रे न भवति तत् तेन कः सुखतः ब्रजति ।

अर्थ—निश्चय से यह मुक्ति का पन्थ पापमय अन्धकार से चारों ओर से ढका है और अगाध क्लेशरूपी गड्ढों से ऊंचे-नीचे स्थान वाला है। तब हे देव ! यदि तत्त्वस्वरूप बताने वाला आपकी भारतीरूप रत्नदीपक आगे-आगे न हो तब उस मार्ग से कौन सुख से जा सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ।

अध्यात्मध्वनि—निश्चयकर यह ज्ञायकभाव के अनुभवरूप मोक्ष का मार्ग रागद्वेष ममत्व विषयेच्छा आदि पापमय अन्धकार से सर्वप्रदेशों में ढका हुआ और बड़े-बड़े संक्लेश के गड्ढों से अटपट ऊँचा-नीचा है। हे चैतन्य देव ! तेरे स्वरूप की महिमा कर पूर्ण सरस्वती प्रज्ञारूपी उत्तम दीपक यदि मोक्षमार्ग के पथिक के आगे-आगे न हो तो उस मार्ग से कौन सुखपूर्वक चल सकता है ।

सारांश—चैतन्य तत्त्व का अनुभव होने पर भी जब तक निर्विकल्पकता नहीं होती है इसी चैतन्य तत्त्व की चर्चा वाली बुद्धि का सहारा लेना चाहिये अन्यथा शिवमार्ग चलते हुए कर्मोदय का निमित्त मात्र पाकर रागद्वेष, संक्लेश आदि गड्ढे बनते जाते हैं, उनमें पतन हो गया तो फिर बड़ी

कठिनाई और खेद की बात होगी । अतः कारणसमयसार का लक्ष्य निश्चय रखना चाहिये । वही शिवमार्ग उत्तम दीपक है ।

गाथा १५

आत्मज्योतिर्निधरनवधिर्द्रष्टुरानन्दहेतुः,
कर्मक्षोणीपटलपिहितो योऽनवाप्यः परेषां ।

हस्ते कुर्वन्त्यनतिचिरतस्तं भवद्भक्ति भाजः,
स्तोत्रैर्बन्धप्रकृतिपरुषोद्वामधात्रीखनित्रैः ॥१५॥

अन्वय—द्रष्टुः आनन्दहेतुः अनवधिः आत्मज्योतिर्निधिः कर्मक्षोणीपटल पिहितः यः परेषां अनवाप्य अस्ति । किन्तु भवद्भक्ति भाजः तं बंधप्रकृतिपरुषोद्वामधात्रीखनित्रैः स्तोत्रैः अनतिचिरतः हस्ते कुर्वन्ति ।

अर्थ—देख लेने वालों के आनन्द की कारणभूत अपरिमित आत्मज्योतिरूप निधि कर्मरूपी पृथ्वीपटल से ढकी हुई है जो पर कहिये अन्य विपरीत दृष्टि वालों के लिये अलभ्य है किन्तु आपकी भक्ति के अधिकारी ज्ञानीजन उस निधि को बंगत प्रकृतिरूपी अत्यन्त कठोर पृथ्वी को खोदने वाली कुदालीस्वरूप स्तोत्रों के द्वारा बहुत ही शीघ्र हाथ में कर लेते हैं अर्थात् पा लेते हैं ।

अध्यात्मधनि—चैतन्यसंपत्ति के देख लेने वाले पुरुष के आनन्द का कारणभूत अमर्याद आत्मज्ञानरूप निधान विभावरूप कर्मपटलों कर आच्छादित (ढका) है जो कि इसके रहस्य से अनवगत मिथ्याबुद्धियों को अप्राप्य है । किन्तु हे चैतन्य देव ! आपकी भक्ति में रति (लीनता) करने वाले निकट भव्यजन उस आत्मज्योति की बंध प्रकृति के कठिनतम भूमि को खोद देने वाले आपके अनुरागस्तवनों से शीघ्र ही अपने प्रत्यक्ष कर लेते हैं ।

सारांश—असीम सुखस्वरूप ज्ञान मात्र महान् निधान हम ही में छुपा है वह रागद्वेष भावों से तिरोभूत है, इस पर कर्म का पटल पड़ा है, इसे इसके ही अनुरागस्तवन की कुदाल से कर्मपटल को खोदकर देखा जा सकता है । अपने को हीन दरिद्र अनुभव मत करो, आत्मतत्त्व की अभेद्य श्रद्धा से तथा स्वतत्त्व के आचरण से निज वैभव के स्वामी बनो ।

गाथा १६

प्रत्युत्पन्ना नयहिमगिरेरायता चामृताब्दे-
 या देव त्वत्पदकमलयोः संगता भक्तिगङ्गा ।

 चेतस्तस्यां मम रुचिवशादाप्लुतं क्षालितांहः,
 कल्माषं यद्भवति किमियं देव संदेहभूमिः ॥१६॥

अन्वय—हे देव नयहिमगिरे: उत्पन्ना च अमृताब्दे: आयता या त्वत्पदकमलयोः भक्तिगङ्गा संगता तस्यां रुचिवशात् आप्लुतं मम चेतः यत् क्षालितांहः कल्माष भवति, हे देव इयं किं संदेहभूमिः अस्ति ?

अर्थ—हे देव ! नयरूपी हिमाचल से उत्पन्न हुई और अनन्त सुखरूप अमृत-समुद्र तक लम्बी जो तुम्हारे चरणकमल की भक्तिरूपी गङ्गा प्राप्त हुई है उसमें श्रद्धा के वश से आप्लावन किया हुआ मेरा चित्त, धुल गया है पापरूपी कल्मष जिसके, ऐसा जो हो जाता है तो क्या यह संदेह का स्थान है ?

अध्यात्मधनि—हे चैतन्य देव ! निश्चय दृष्टिरूपी हिमालय से निकली हुई अमृत अर्थात् अविनाशी अभेद आत्मतत्त्वरूपी समुद्र तक लम्बी चली गई जो तुम्हारे पदद्वय (ज्ञान दर्शन) की सेवा परिणतिरूपी गङ्गा नदी समीप बह रही है ,उस गङ्गा के शुत्रतत्त्व की रुचि के वश से झूबा हुआ मेरा उपयोग पापरूपी कालिमा से क्षालित (रहित) अर्थात् शुद्ध हो जata है, हे देव ! क्या यह कोई संदेह का भी स्थान है ? यह तो निश्चयतः इसी प्रकार ही हो जाता है ।

सारांश—जिन्हों का उपयोग अनादिअनन्त ज्ञानसामान्य दर्शनसामान्य के अभेदरूप चैतन्य तत्त्व की सेवारूपी गङ्गा में झुबोया हुआ है अर्थात् जो निर्विकल्प हो गये हैं वे सर्व विकल्पों से रहित स्वच्छ हो ही जाते हैं इसमें संदेह को कोई स्थान नहीं है ।

गाथा १७

प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख त्वामनुध्यायतो मे,
 त्वयेवाहं स इति मतिरुत्पद्यते निर्विकल्पा ।

मिथ्यैवेयं तदपि तनुते तृसिमभ्रेषरूपां,
दोषोत्मानोऽप्यभिमतफलास्त्वत्प्रसादाद्भवन्ति ॥१७॥

अन्वय—हे प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख ! त्वां अनुध्यायतः मे त्वयि एव अहं इति निर्विकल्पा मतिः उत्पद्यते । यद्यपि इयं मिथ्या एव तदपि अभ्रेषरूपां तृसिं तनुते । हि त्वत्प्रसादात् दोषात्मानः अपि अभिमतफलाः भवन्ति ।

अर्थ—उत्पन्न हुआ है स्थायी सुख जिसके ऐसे हे देव ! तुम्हारा ध्यान करने वाले मेरे में तुम ही में “वह मैं हूं” ऐसी निर्विकल्पस्वरूप बुद्धि उत्पन्न होती है सो यद्यपि यह एकीकरण की बुद्धि मिथ्या है तो भी अविनाशी संतोष को विस्तारती है । सो ठीक ही है तुम्हारे प्रसाद से दोषमय भी प्राणी इष्ट फल को प्राप्त कर लेने वाले हो जाते हैं ।

अध्यात्मधनि—प्रकट हुआ है आत्मीय स्थिरता के स्थान का सुख जिसमें ऐसे हे चैतन्य देव ! तुम्हारे ध्यान करने वाले इस मुझ आत्मा के तुम में वह मैं ही हूं इस प्रकार की अभिन्न निर्विकल्प बुद्धि उत्पन्न होती है । यद्यपि चतुष्टय की अपेक्षा से देखो तो यह बात असत्य है तो भी यह मति निर्बाध अलौकिक संतोष बढ़ाती है । ठीक ही है तुम्हारी निर्मलता से (अभिव्यक्ति से) सदोष पुरुष भी परमेष्ट फल के स्वामी हो जाते हैं ।

सारांश—इस चैतन्य तत्त्व के, जिसके कि अनुरूप पर्याय में अनन्त सुख प्रकट है—लक्ष्य में जिसका उपयोग सुदृढ़ है ऐसे मुझको वहां ऐसा अभेद आ जाता है कि उस तुममें मैं ही हूं याने वहां पर्याय नहीं प्रतीत होती है ऐसी अभिन्नता हो जाती है अथवा पर्याय में मलिनता प्रतीत नहीं होती है । यद्यपि यह बात मिथ्या है क्योंकि चैतन्य तत्त्व के लक्ष्य से सुदृढ़ उपयोग हो फिर भी सभी वह पूर्ण नहीं है तो भी चैतन्य तत्त्व की निर्मलता के अनुभव में पर्याय की निर्मलता होती जाती है और अन्त में आप इष्ट हममें (अभिन्न व्यक्ति में) भी हो जाते हैं अर्थात् तब स्वभाव के अनुरूप पर्याय हो जाती है ।

गाथा १८

मिथ्यावादं मलमपनुदन् सप्तभङ्गीतरङ्गे-
वाग्म्भोधिर्भुवनखिलं देव पर्येति यस्ते ।

तस्यावृत्तिं सपदि विवृधाश्चेत्सैवाचलेन,
व्यातन्वन्तः सुचिरममृतासेवया तृप्तुवन्ति ॥१८॥

अन्वय—हे देव सप्तभङ्गीतरङ्गेः मिथ्यावादं मलं अपनुदन् ते यः वागंभोधिः भुवनं पर्येति, चेतसा एव अचलेन तस्य आवृत्तिं व्यातन्वन्तः विवृधाः सपदि अमृतासेवया रुचिरं तृप्तुवन्ति ।

अर्थ—हे देव ! सप्तभङ्गीरूप लहरों के द्वारा मिथ्यावाद-मल को हटाता हुआ तुम्हारा वचनरूपी-समुद्र लोक को बेष्टित कर रहा है सो मनरूपी मन्दराचल से उस वचन-समुद्र का मन्थन करने वाले विवृध कहिये विद्वान् अथवा देव बहुत शीघ्र अमृत अथवा मोक्षसुख के पान से चिरकाल तक तृप्त रहते हैं ।

अध्यात्मध्वनि—यह चैतन्य स्वस्वरूप से है, परस्वरूप से नहीं, आदि सप्त भङ्गों की तरङ्गों से शरीरादि परस्वरूप में आत्मबुद्धि आदि रूप मल को दूर करता हुआ आपका यह अन्तर्वितर्क वाक्यरूप-समुद्र समस्त पदार्थों को धेरे हुए है (सकल तत्त्व का ठीक निर्णय कराता है) उसके **आवर्तन** को निश्चल उपयोग के द्वारा करने वाले सम्यग्ज्ञानी आत्मा शीघ्र चैतन्यामृत के आसेवन से अनन्त काल तक अनाकुल हो जाते हैं ।

सारांश—स्याद्वाद के विधि-निषेधादि दृष्टियों के द्वारा मिथ्या बुद्धि को दूर करके स्वपर के यर्थार्थ स्वरूप का निर्णय करके निकट भव्यजन सम्यग्ज्ञान के फलस्वरूप निज चैतन्य-अमृत का अनुभवपान करके शाश्वत सुखी हो जाते हैं । यही चैतन्यतत्त्व सुखार्थों का लक्ष्य होना चाहिये, जिससे अन्य सर्व पदार्थों से व वैभाविक भावों से रुचि स्वयं हट जाये ।

गाथा १९

आहार्येभ्यः स्पृहयति परं यः स्वभावादहृद्यः,
शस्त्रग्राही भवति सततं वैरिणा यश्च शक्यः

सर्वाङ्गेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषां,
तत्किं भूषावसनकुसमैः किं च शस्त्रैरुदस्तैः ॥१९॥

अन्वय—यः स्वभावात् अहृद्यः स्यात् स एव परं आहार्येभ्यः स्पृहयति, च य वैरणिं शक्यः स्यात् सः शस्त्रग्राही भवति । किन्तु हे देव ! त्वं सर्वाङ्गेषु सुभगः असि, त्वं परेषां शक्यः नासि, तत् भूषावसनकुसमैः किं, च उदस्तै शस्त्रं किं प्रयोजनम् ।

अर्थ—जो स्वभाव से अहृद्य हो, कुरुप हो वह ही अतिशयतया आभूषणादि की चाह करता है, धारण करता है और जो बैरी के द्वारा जीता जा सकने योग्य हो वह ही शस्त्र का ग्रहण करने वाला होता है, परन्तु हे देव ! तुम सर्वाङ्ग में सुभग हो, सुरूप हो, तुम किसी पर शत्रु आदि से जीते जा सकने योग्य नहीं हो फिर अब तुमको वस्त्र पुष्पादि से क्या और अस्त्र शस्त्रों से क्या प्रयोजन है ?

अध्यात्मध्वनि—जो स्वभाव से कुरुप हो वह ही अर्थात् उसकी प्रतिमूर्ति (शरीर या प्रतिमा आदि) आभूषणों को अङ्गीकार करे और जो बैरी के द्वारा जीता जा सके वही बाह्य में अस्त्र का ग्रहण करने वाला हो, परन्तु हे चैतन्य देव ! तुम सर्वात्मप्रदेशों में सुभग विराजमान हो, दूसरों के द्वारा (शत्रु, जल, अग्नि आदि के द्वारा) जीते नहीं जा सकते अर्थात् बाधित नहीं हो सकते, फिर तुम्हारी व्यक्तमूर्ति (शरीर या प्रतिमा) को आभूषण फूल आदि से अथवा तीक्ष्ण शस्त्र आदि से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं । जिस घट में देव प्रसाद (निर्मलता) के साथ विराजे हैं उसकी प्रतिमूर्ति इस तरह की होती है । इस तरह की प्रतिमूर्ति के आश्रय चैतन्य तत्त्व के अन्तरङ्ग लक्ष्य पर पहुंचना चाहिये ।

सारांश—निज चैतन्य परम अपूर्व है, किसी के द्वारा भी बाधित नहीं है, सदा प्रकाशमान है । उस पर दृष्टिपात करो और उसके प्रसाद से शाश्वत सुखी होओ ।

गाथा २०

इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते,
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघ्यतामातनोति ।

त्वं निस्तारी जनन-जलधेः सिद्धिकान्तापतिस्त्वं,
त्वं लोकानां प्रभुरिति तव श्लाघ्यते स्तोत्रमित्थम् ॥२०॥

अन्वय—हे देव ! इन्द्रः तव सेवां सुकृतां किं तथा श्लाघनं अस्ति ? किन्तु भवलयकरी तस्य इय एव सेवा श्लाघ्यतां आतनोति अतः त्वं जनन-जलधेः निस्तारी त्वं सिद्धिकान्तापतिः, त्वं लोकानां प्रभुः इत्थं तव स्तोत्र श्लाघ्यते ।

अर्थ—हे देव ! इन्द्र तुम्हारी सेवा भले प्रकार करता है, क्या उस सेवा से तुम्हारी प्रशंसा है ? उस सेवक के संसार का लय (विनाश) करने वाली वह सेवा तो उस इन्द्र की ही प्रशंसा को विस्तारती है । इसलिये तुम संसार-समुद्र से तारने वाले हो, तुम सिद्धि-कान्ता के स्वामी हो, तुम लोकों के प्रभु हो, इस प्रकार यह तुम्हारी स्तुति प्रशंसनीय है ।

अध्यात्मधनि—हे चैतन्य तत्त्व ! तुम्हारा लक्ष्य करके अपनी शक्ति के अनुसार इन्द्र तुम्हारी, तुम्हारे प्रतिमूर्ति की सेवा करता है, क्या इस सेवा से तुम्हारी प्रशंसा है ? नहीं, किन्तु संसारभाव का विनाश करने वाली उस इन्द्र की यह सेवा तुम्हारी प्रशंसा को विस्तारती है । इस ही कारण से तुम संसार-समुद्र से पार करने वाले हो, तुम सिद्धिरूपी कान्ता के पति हो, तुम लोकों के प्रभु हो । इस प्रकार तुम्हारा स्तोत्र आदर से किया जाता है ।

सारांश—चैतन्य तत्त्व की बड़े-बड़े ऋषि, इन्द्र, चक्री सेवा करते हैं; इससे चैतन्य के स्वयं का कोई माहात्म्य सिद्ध नहीं है । किन्तु इस चैतन्य की सेवा से, अनुभूति से ऋषि आदि सांसारिक दुःख से सदैव को मुक्त हो जाते हैं । इससे तुम्हारा माहात्म्य है । सुखार्थी को सच्चे उद्देश्य को लेकर इस निज समरसपूरित चैतन्य भगवान् की सेवा करनी चाहिये ।

गाथा २१

वृत्तिर्वाचामपरसद्वशी न त्वमन्येन तुल्यः,
स्तुत्युद्गाराः कथमिव ततस्त्वय्यमी नः क्रमन्ते ।

मैवं भुवंस्तदपि भगवन् भक्तिपीयूषपुष्टास्ते,
भव्यानामभिमतफलाः पारिजाता भवन्ति ॥२१॥

अन्वय—हे भगवन् ! इयं वाचां वृत्तिः अपरसद्वशी न, त्वं अन्येन तुल्यः न असि, ततः न अभी स्तुत्युद्गाराः त्वयि कथं क्रमन्ते ? अथवा एव मा अभूवन् तदपि भक्तिपीयूषपुष्टाः ते भव्यानां अभिमतफलाः पारिजाता भवति ।

अर्थ—हे भगवन् ! यह (मेरे) वचनों की प्रवृत्ति अन्य लोकों की तरह है, परन्तु तुम अन्य पुरुष के सत्त्व नहीं हो, अलौकिक हो । इसलिये मेरे ये स्तुति के उद्गार तुम तक कैसे पहुंच सकते हैं ? अथवा ऐसा न भी हो अर्थात् ये वचन तुम तक न भी पहुंचे तथापि भक्तिरूपी अमृत से पुष्ट हुए वे स्तुत्युद्गार इष्ट फल देने वाले कल्पवृक्षों की तरह होते ही हैं ।

अध्यात्मधनि—हे ध्रुवज्ञानमय ! व्यवहारमय वचनों की प्रवृत्ति अन्य व्यवहारमय वचनों की तरह अथवा व्यवहारस्थ पुरुषों की तरह है । और परमार्थस्वरूप तुम अन्य व्यवहारियों की तरह नहीं हो । इसलिये मेरे ये स्तवन के वचन अथवा स्तुति के वितर्क तुम तक किस तरह से पहुंच सकते हैं ? अथवा ऐसा न भी हो अर्थात् व्यवहारवचन परमार्थस्वरूप को न भी छू सकें तो भी चैतन्य की भक्तिरूप अमृत से परिपुष्ट हुए वे स्तुति के उद्गार परमेष्टफल के निमित्तभूत कल्पवृक्ष हैं ही ।

सारांश—अवक्तव्य स्वसंवेद्य परमार्थ तत्त्व व्यवहारमय वचनों से अगम्य है तथापि जैसे अंगुली के सहारे चन्द्रमा बता दिया जाता है वैसे चैतन्यस्तवन के ज्ञानगुणादि कथनरूप व्यवहारमय वचन के सहारे चैतन्य के अनुभवरूप परमार्थ तत्त्वमय परमेष्टपद दिख जाता है । अतः हे चैतन्यदेव ! तुम्हारा ही लक्ष्य, तुम्हारा ही गान बना रहे ।

गाथा २२

कोपावेशो न तव न तव क्वापि देव प्रसादो,
व्याप्तं चेतस्तव हि परमोपेक्षयैवानपेक्षम् ।

आज्ञावश्यं तदपि भुवनं सन्निधिर्वैरहारी,
क्वैवंभूतं भुवनतिलक प्राभवं त्वत्परेषु ॥२२॥

अन्वय—हे देव ! तव क्व अपि कोपावेशः न अस्ति च तव क्व अपि प्रसादः न अस्ति । हि तव अनपेक्ष चेतः परमोपेक्षया एव व्याप्तं वर्तते । तदपि भुवनं आज्ञावश्यं च सन्निधिः वैरहारी समस्ति । हे भुवनतिलक एवंभूतं प्राभवं त्वत्परेषु क्व विद्यते ?

अर्थ—हे देव तुम्हारा किसी पर भी कोप का आवेश नहीं है और न किसी पर तुम्हारी प्रसन्नता है। निश्चय से तुम्हारा निरपेक्ष मन (भाव) उत्कृष्ट उपेक्षा से ही व्याप्त है, तो भी यह लोक तुम्हारी आज्ञा के वश है और तुम्हारी निकटता बैर की हरने वाली है । हे भुवनश्रेष्ठ ! ऐसा ऐश्वर्य तुम्हारे सिवाय अन्यत्र कहां है ?

अध्यात्मधनि—हे ज्योतिर्मय ! तुम्हारे कहीं कोप का आवेश नहीं और तुम्हारे कहीं भी हर्ष नहीं अर्थात् तुम रागद्वेष के स्वरूप से न्यारे ही हो । निश्चय से तुम्हारा निरपेक्ष उपयोग अथवा परिणमन भी परम उपेक्षा से व्याप्त है । फिर भी लोक तुम्हारी आज्ञा प्रसन्नता के आधीन है । जब लोकों के गुरु, मुनि, साधु, विवेकी, तुम्हारी आराधना करते हैं तो सब लोक तुम्हारे आधीन स्वयं सिद्ध हो गया अथवा तुम्हारी आज्ञा अर्थात् व्यक्ति के आधीन यह लोक है ही । तुम्हारी निकटता समस्त बैर-विरोध को हरने वाली है । हे लोकोत्तम ! ऐसा प्रभाव तुमसे भिन्न, बुद्धि, राग, काम आदि किन्हीं भी भावों में कहां हो सकता है ?

सारांश—चैतन्य का प्रसाद ही सर्व कल्याण है, इसलिये परम शुचि चैतन्य देव की आराधना करो ।

गाथा २३

देव स्तोतुं त्रिदिवगणिकामण्डलीगीतकीर्ति,
तोतूर्ति त्वां सकलविषयज्ञानमूर्ति जनो यः ।

तस्य क्षेमं न पदमटतो जातु जोहूर्ति पन्था-
स्तत्त्वग्रन्थस्मरणविषये नैष मोमूर्ति मर्त्यः ॥२३॥

अन्वय—हे देव यत्र त्रिदिवगणिकामण्डलीर्गीतकीर्ति सकलविषयज्ञानमूर्ति त्वां स्तोतुं यः जनः तोहूर्ति, क्षेमं पदं अटतः तस्य पन्थाः जातु न जोहूर्ति च एवः मर्त्यः तत्त्वग्रन्थस्मरणविषयेन मोमूर्ति ।

अर्थ—हे देव ! स्वर्ग की अप्सराओं के समूह के द्वारा गाई गई है कीर्ति जिसकी ऐसे और सर्व पदार्थों को विषय करने वाले ज्ञान की मूर्तिस्वरूप तुमको स्तवने के लिये जो मनुष्य शीघ्रता करता है मङ्गलमय परमपद के प्रति गमन करने वाले उस पुरुष का मार्ग कभी कुटिल (दुर्गम्य) नहीं होता और वह पुरुष तत्त्व प्रतिपादक ग्रन्थों के स्मरण के संबंध में कभी मूर्छा को प्राप्त नहीं होता ।

अध्यात्मध्वनि—हे ज्योतिर्मय ! स्वर्गवासियों की प्रधान देवांगनाओं की मण्डली के द्वारा गाई गई है कीर्ति जिसकी (अर्थात् प्रधान स्त्रीजनों की कीर्तिगान देखकर यह सहसा अनुमान हो जाता है कि इस विषय की कीर्ति महन्त योगीन्द्रादि द्वारा गाई गई है क्योंकि गणिकावों का गान महन्तों के अनुरूप होता है) ऐसे, एवं समस्त पदार्थों को विषय करने वाले ज्ञान की मूर्ति परिणति उठती है जहा से ऐसे, तुमको जो मनुष्य स्तवन करने के लिए, अपनाने के लिए शीघ्रता करता है; कल्याणमय उस निज पद को जाते हुए उस भक्त का मार्ग कभी वक्त नहीं होता है और वह चैतन्यानुरागी परमतत्त्वप्रतिपादक ग्रन्थों के स्मरण में कभी मूर्छित नहीं होता है अथवा तत्त्व प्रतिपादक ग्रन्थों के स्मरण में कभी मूर्छित नहीं होता है अथवा तत्त्व प्रतिपादक ग्रन्थों के स्मरणरूप पर्याय तक में भी स्मैही नहीं होता है ।

सारांश—चैतन्यतत्त्व के लक्ष्य में ही परम अभीष्ट की सिद्धि है, अतः चैतन्यदेव की ही अभिन्न आराधना करो ।

गाथा २४

चित्तेकुर्वन्निरवधिमुखज्ञानदग्वीर्यरूपं,
देव त्वां यः समयनियमादादरेण स्तवीति ।

श्रेयोमार्गं स खलु सुकृती तावता पूरयित्वा,
कल्याणानां भवति विषयः पञ्चधा पञ्चितानां ॥२४॥

अन्वय—हे देव ! निरवधिमुखज्ञानदग्वीर्यरूपं, त्वां चित्ते कुर्वन् यः समयनियमात् आदरेण स्तवीति । खलु सः सुकृती तावता श्रेयोमार्गं पूरयित्वा पञ्चधा पञ्चितानां कल्याणानां विषयः भवति ।

अर्थ—हे देव ! अपरिमित सुख-ज्ञान-दर्शन-शक्तिमय तुमको चित्त में करता (धारण करता) हुआ जो पुरुष समय के नियम से आदरपूर्वक स्तवन करता है निश्चय से वह पुण्यवान् उतने से ही मोक्षमार्ग को पूरित करके पञ्च प्रकार के कल्याणों का (गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण) विषय (अधिकारी) होता है ।

अध्यात्मध्वनि—हे ज्योतिर्मय! अनन्तसुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन व अनन्तवीर्य है रूप (पर्याय) जिसका, ऐसे तुम चैतन्य तत्त्व को उपयोग में धारण करता हुआ जो निकट भव्य स्वभावानुराग से समय के नियम से (अर्थात् इस स्तोत्रव्य का ही अनन्त काल के लिये लक्ष्य न रखकर) यथार्थ स्तवन करता है, निश्चय से वह लोकोक्तम कृतिमान् उस अमेद स्तवन से (ध्यान से) मोक्षमार्ग को पूर्ण करता हुआ चैतन्य, ज्ञानदर्शन, अनन्तज्ञानादि निर्विकल्पभावना व सम्यक्त्व—इस प्रकार पञ्च उत्तम भूमिका, कल्याण से विस्तृत कल्याणकों का पात्र होता है ।

सारांश—जो चैतन्य तत्त्व का लक्ष्य करता है वह सम्यक्त्व आदि उत्तम कल्याणभूमि को प्राप्त हो शाश्वत सुखी होता है ।

गाथा २५

भक्तिप्रह्लमहेन्द्रपूजितपद त्वत्कीर्तने न क्षमाः,
सूक्ष्मज्ञानदशोऽपि संयमभृतः के हंत मन्दा वयं ।

अस्माभिः स्तवनच्छ्लेन तु परस्त्वय्यादरस्तन्यते,
स्वात्माधीनसुखैषिणां स खलु नः कल्याणकल्पद्रुमः ॥२५॥

अन्वय— भक्तिप्रहृमहेन्द्रपूजितपद हे देव ! सूक्ष्मज्ञानदशः संयमभृतः अपि त्वत्कीर्तने क्षमा न सन्ति । हन्त वयं मन्दाः के ? तु अस्माभिः स्तवनच्छलेन त्वयि परः आदरः तन्यते । खलु सः स्वात्माधीनसुखैषिणां स खलु नः कल्पद्रुमः स्यात् ।

अर्थ— भक्ति से नग्नीभूत महेन्द्रों के द्वारा पूजित हैं चरण जिनके, ऐसे हे देव ! सूक्ष्म ज्ञान ही है नेत्र जिनके ऐसे मुनिवृन्द भी तुम्हारे गुण-कीर्तन में समर्थ नहीं हैं, तब खेद है कि हम मंद बुद्धि वाले कौन हैं ? परन्तु हमारे द्वारा स्तवन के छल से आपमें परम आदर विस्तृत किया जा रहा है सो निश्चय से वह स्वात्माधीन सुख चाहने वाले हम लोगों को कल्पद्रुम स्वरूप होवे ।

अध्यात्मध्वनि— चैतन्यतत्त्व की रुचि से सरल और लाभोत्सुक महान् आत्माओं द्वारा आवृत है ज्ञानदर्शन सामान्यरूप अभिन्न पद जिसके, ऐसे हे चैतन्यदेव ! सूक्ष्म (निर्मल) ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले संयमी योगीन्द्र भी तुम्हारे स्वरूप-कीर्तन में समर्थ नहीं हैं, तब हन्त ! हम जैसे अल्पज्ञान पर्यायी क्या हैं अर्थात् कीर्तन कैसे समर्थ हो सकते हैं ? तो भी मेरे द्वारा स्तवन के छल से आश्रय से तुममें मेरे बुद्धिगत उत्कृष्ट आदरमात्र ही किया जा रहा है सो निश्चय से वह आदर ही स्वात्मीय सुख के इच्छुक हम लोगों को कल्याणकारी कल्पवृक्ष होवे अर्थात् स्तवन के संकेत से परमार्थस्वरूप आपका अवलोकन करके उसी में स्थिरता प्राप्त हो ।

सारांश— रत्नोत्तम चैतन्य तत्त्व की महिमा अनुभव से ही प्रतीत है, वह वर्णन में नहीं आती परन्तु हमारा वर्णन तो आपकी रुचि मात्र है यही प्रकट हो जिसके प्रसाद से सर्वविकल्पों से रहित चैतन्यमात्र बर्तू ।

गाथा २६

वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतर्किकसिंहः ।

वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभव्यसहायः ॥२६॥

वादिराजस्तुतौ दृष्ट्वा शब्दांश्चित्तत्वसूचकान् ।

कृताध्यात्मध्वनिभूयात्सहजानन्दसिद्धये ॥

* समाप्तम् *